THE ECONOMIC TIMES

Date:18-04-23

All It Takes To Be a Family Is Be Familial

ET Editorials

It took a Bombay High Court judgment to allow a woman and a child, the former a working single woman who is not the latter's biological mother, to find a family in each other. By law, single persons can adopt children — barring single men adopting girls. The single-judge bench overturning the district court's earlier order, therefore, does not break new ground. The earlier verdict turning down the woman's application to adopt her sister's daughter was not because she was a single woman but because of 'concerns' that as a single workingwoman, she would not be able to give the child 'personal attention'. Thankfully, the high court stated that all that mattered was the Central Adoption Resource Authority finding her to be fit as an adoptive parent. The rest were just concerns of a 'medieval' mindset.

The district court had rightly put the welfare of the child above all else. Where it showed its poor judgment was its bias against a workingsingle woman — a bias against anything straying from the standard family unit template. It is this aspect that makes the judgment important. Especially at a time when the legal validity of different types of family arrangements — including same-sex marriage — are being contested.

A family — parivar — is defined by a tight, close unit, looking out and caring for one another and, indeed, dependent on its members. There is no cookie-cutter 'husband-wife-kids' module, even as this may be its most popular and attested format, while the 'joint family' was de rigueur in some other time. All that matters for family members is to be familial for each other. Conversely, there is nothing that guarantees a wife-husband unit, by default, to be the best format to bring up a child if either parent is deemed unfit.

THE HINDU

Date:18-04-23

Sudan's tragedy

The feuding Generals should agree on a time-bound transition to democracy

Editorial

For 30 years, Omar al-Bashir, a former military officer, ruled Sudan with an iron hand and indiscriminate violence. When he was toppled in April 2019 in a mass uprising, many hoped that the resource-rich country in the Horn of Africa would finally get a chance to move towards a freer society with a representative and responsive administration. But the tragedy of Sudan is that the monstrous regime that

Mr. Bashir built outlasted his reign. Within two years of his fall, the military was back, and now, a power struggle between the top two generals has pushed Sudan to the brink of a civil war. Dozens of civilians have already been killed in fighting that broke out on Saturday in Khartoum and other parts of the country between the military and the Rapid Support Forces (RSF), a notorious paramilitary group. Despite international calls for truce, Lt.Gen. Abdel Fattah al-Burhan, the military chief as well as the head of the Sovereignty Council, the transitional administration, and his deputy, Lt.Gen. Mohamed Hamdan Dagalo, who commands the RSF, have refused to negotiate, blaming each other for the attacks. Mr. Dagalo, who has close ties with Russia's Wagner private military company and Saudi Arabia, claims that the RSF has taken control of the presidential palace and has vowed to bring Gen. Burhan to justice, while the military has dismissed such claims and launched air strikes against RSF sites.

Just two years ago, the two generals stood hand in hand when they ousted a civilian transition government and took over the reins of the country. Faced with international isolation and domestic pressure, they agreed to transfer power back to the civilians. But differences emerged on who should control the post-transition military. Gen. Burhan supports the integration of the RSF into the regular military and transition to civilian government to take place in two years, while Gen. Dagalo, who fears that he would lose his clout, wants to delay it by 10 years. Discord grew into mistrust and mistrust led to fighting. And the fighting could drag the country, which has a history of internal strife, into an all-out civil war. Sudan's generals are known for their scant regard for the welfare of their people. The country is struggling with an economic crisis, with rocketing inflation and a burning hunger problem. The last thing Sudan wants now is a civil war. If the priority of the generals is to address Sudan's basic problems, they should pay attention to the call for a truce and dialogue, and commit themselves to a timeline-sensitive democratic transition. Decades of military rule in Sudan have resulted in a lot of atrocities. Generals Burhan and Dagalo should not tread the same course.

दैनिक भास्कर

Date:18-04-23

सुविधानुसार सच का पैमाना बदलना कुतर्क है

संपादकीय

दूध कर्नाटक में चुनावी मुद्दा बन गया है। देश में दूध का सबसे बड़ा ब्रांड अमूल अब इस राज्य में विस्तार कर रहा है, जिससे वहाँ के दुग्ध-किसानों का नुकसान होगा। राज्य सरकार का कहना है कि यह संस्था के सिद्धांतों के खिलाफ है। वहां के सहकारी नदिनी ब्रांड का अभी तक पूरे बाजार पर कब्जा था। विपक्ष इसे सरकार और केंद्र के खिलाफ मुद्दा बना चुका है। इसी बीच नंदिनी ब्रांड ने केरल में अपने अनेक आउटलेट खोलकर दूध बेचना शुरू किया है। इससे केरल नाराज है। इसका तर्क भी वही है, जो कर्नाटक का अमूल के खिलाफ है। वह भी यही आरोप लगा रहा है। कि कर्नाटक को कोई अधिकार नहीं है कि वह दूसरे राज्य में जाकर दूध बेचे और वहां के मिल्क ब्रांड 'मिल्मा और किसानों का अहित करे। यह सच है कि दूध का उत्पादन और कीमतें बहुत कुछ भौगोलिक और स्थानीय कारकों, खेती की प्रकृति और

राजनीतिक-सामाजिक कारणों पर निर्भर है, जिस पर दुग्ध उत्पादक किसानों का कोई नियंत्रण नहीं होता। कई राज्यों में दुग्ध उद्योग में सहकारी आंदोलन उतना प्रबल नहीं रहा है। वहीं कर्नाटक और गुजरात में कृषि क्षेत्र ज्यादा होने से गा भी उपलब्ध हैं और मोटा अनाज भी पशु आहार के लिए पैदा होता है। कर्नाटक का आबादी घनत्व 389 व्यक्ति प्रति किमी है और गुजरात का 308 जबकि बिहार का 1250, केरल 870 और पश्चिमी बंगाल का 1028, लिहाजा प्रति लीटर दूध की लागत भी केरल या बिहार के मुकाबले कम होती है। लेकिन इन सबसे अलग कुछ राज्य दूध-अभाव वाले हैं जिनके लिए दूसरे राज्यों से दूध लेना मजबूरी है। केन्द्रीय स्तर पर दुग्ध-विपणन नीति बनाने से ही समस्या का हल संभव होगा।

Date:18-04-23

क्या ए आई के विकास पर रोक लगाने की जरूरत है

नीयल फर्ग्युसन लेखक, (ब्लूमबर्ग के स्तम्भकार और ग्रीनमेंटल के संस्थापक)

ऐसा रोज-रोज नहीं होता कि डरा देने वाला पूर्वानुमान मुझे पढ़ने को मिलता हो, जैसा कि हाल ही में टाइम पत्रिका में एलीजेर यूडकोव्स्की के एक लेख में मुझे मिला। उन्होंने कहा कि अगर हम एक सुपरह्यूमन स्मार्ट एआई बनाते हैं तो यह मनुष्यजाति के अंत की शुरुआत होगी। और यह किसी सुदूर-अतीत में नहीं होगा। यह पढ़कर मैं सोचने लगा कि क्या साइंस-फिक्शन के 200 वर्षों के इतिहास ने हमें एआई के लिए तैयार नहीं किया है? युडकोव्स्की को अच्छी तरह से पता है कि वे क्या कह रहे हैं। वे बर्कले स्थित मशीन इंटेलीजेंस रिसर्च इंस्टिट्यूट के प्रमुख हैं और एआई के मसले पर लम्बे समय से लिख रहे हैं। उन्होंने चेतावनी दी है कि कोई अनजाने ही एक घातक एआई बना सकता है। मिसाल के तौर पर, हम उससे कहें कि वह क्लाइमेट चेंज पर रोक लगा दे और वह यह निष्कर्ष निकाले कि यह तो होमो सेपियंस के समूल-नाश से ही सम्भव है।

आखिर ये यूडकोव्स्की ही थे, जिन्होंने कुछ साल पहले इस मूर्स लॉ को सामने रखा था कि हर 18 महीने के अंतराल में, दुनिया के संहार के लिए जरूरी आईक्यू में एक पॉइंट की गिरावट हो जाती है। लेकिन अगर हम अपने से अधिक बुद्धिमान एआई की रचना करते हैं और अगर वह चैतन्य प्राणियों के जीवन की परवाह नहीं करता है तो यह हमारे लिए बुरी खबर होगी। क्योंकि तब हमारा सामना एक ऐसी अतिमानवीय बुद्धिमत्ता से होगा, जो हमारे खिलाफ हो गई है। यूडकोव्स्की ने संकेत दिया है कि अत्यंत शक्तिशाली एआई, इंटरनेट से निकलकर एक कृत्रिम जीवन की रचना कर सकती है और हमारे विरुद्ध एक जैविक युद्ध भी छेड़ सकती है। उनकी नसीहत स्पष्ट थी कि हमें एआई के विकास पर पूर्ण और वैश्विक रोक लगाने की जरूरत है।

ज्यादा समय नहीं हुआ, जब एलन मस्क, स्टीव वोज्नियाक और 15 हजार अन्य गणमान्यजनों ने एक खुले पत्र पर दस्तखत करते हुए कहा था कि एआई के विकास पर छह महीनों के लिए रोक लगा देना चाहिए। उनकी चिंता भी वही थी, जो यूडकोव्स्की की है। यह कि अतिमानवीय क्षमताओं से परिपूर्ण एआई अगर किसी अंतरराष्ट्रीय रेगुलेटरी फ्रेमवर्क के बिना काम करेगी तो विनाश रचेगी। लेकिन यूडकोव्स्की इससे सहमत नहीं कि इस तरह के फ्रेमवर्क का विकास मात्र छह महीनों के भीतर किया जा सकता है।

हम अतीत के दो वैज्ञानिक शोधों से तुलना कर सकते हैं- परमाणु हथियार व जैविक युद्ध। हम हमेशा से जानते थे कि इन फील्ड्स में विनाश की बड़ी सम्भावनाएं हैं, इसके बावजूद इन पर रोक लगाने की कोशिशें शुरू करने में बहुत लम्बा समय लिया गया। यह छह महीनों में नहीं हो गया था। और इसके बावजूद इन पर पूर्ण पाबंदी नहीं लगाई जा सकी है। 1946 में अमेरिका ने न्यूक्लियर रिसर्च के अंतरराष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव रखा था, लेकिन सोवियत संघ इससे सहमत नहीं था और परिणामस्वरूप एटमी हथियारों के संग्रह की होड़ शुरू हो गई। ज्यादा से ज्यादा इतना ही किया जा सका कि 1970 में अप्रसार संधि पर सहमति बनाई गई। इसी तरह बायोलॉजिकल वेपन्स कंवेंशन 1975 में प्रभावशील हुआ था, लेकिन उससे जैविक हथियारों की रिसर्च समाप्त नहीं हो गई। हम जानते हैं चीन में इस पर कितने प्रयोग किए जाते हैं और संदेह जताए गए थे कि कोरोनावायरस इसी की उत्पत्ति था।

अगर एआई भी परमाणु या जैविक हथियारों की तरह मनुष्यता के लिए घातक है तो छह महीनों के लिए उसके विकास पर रोक लगाने से बात नहीं बनेगी। स्टैनफर्ड यूनिवर्सिटी की रिसर्च के मुताबिक 2022 में एआई में वैश्विक निजी निवेश 92 अरब डॉलर तक पहुंच गया था, जिसमें से आधा अमेरिका में किया गया था। निजी कम्पनियां अकादमिक संस्थाओं के बजाय दस गुना अधिक मशीन-लर्निंग मॉडल्स उत्पादित कर रही हैं। आप इस पर कैसे रोक लगाएंगे? दूसरे, एआई रिसर्च पर रोक लगा देने का मतलब मेडिकल साइंस में क्रांतिकारी खोजों का रास्ता बंद कर देना भी होगा। अत्यंत शक्तिशाली एआई भी परमाणु या जैविक हथियारों की तरह मनुष्यता के लिए घातक है तो मात्र छह महीनों के लिए उसके विकास पर रोक लगा देने से भी बात नहीं बनेगी।

दैनिक जागरण

Date:18-04-23

इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर खींचतान

डा. रामानंद, (लेखक सेंटर फार रिसर्च एंड गवर्नेंस के निदेशक हैं)

हर समाज का इतिहास के साथ प्रेम और घृणा का एक अनोखा संबंध होता है, चाहे वह भारतीय समाज हो या पश्चिमी समाज। इतिहास का जो पक्ष आपके अनुरूप होता है, उससे आपको प्रेम होता है और जो आपके अनुरूप नहीं होता, वह आपको नापसंद होता है। यही कारण है कि सब इतिहास को वर्तमान के संदर्भ में ढालना चाहते हैं। इतिहास को ज्यों का त्यों समझने और उसको अपनाने के लिए जिस नैतिक सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, वह कम समाजों में ही विद्यमान है। ब्रिटिश अब जाकर औपनिवेशिक शासन की कुछ घटनाओं के लिए खेद जता रहे हैं, मगर औपनिवेशिक शासन गलत था, इसे वे अब भी मानने को तैयार नहीं हैं। इसलिए इतिहास एक विषयपरक दृष्टिकोण है,

जिस पर अलग-अलग वर्गों का पक्ष अलग हो सकता है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) की कक्षा 10 एवं 12 की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में हाल में हुए कुछ बदलावों को इसी संदर्भ में देखना चाहिए। नि:संदेह एक पक्ष इन बदलावों को गलत और ऐतिहासिक तथ्यों से विमुख बता रहा है, मगर वास्तविकता यह है कि दोनों पक्षों को सुविधाजनक इतिहास ही चाहिए, जो वर्तमान के विमर्श के अनुरूप हो। पाठ्यपुस्तकों में क्या पढ़ाया जाए और क्या न पढ़ाया जाए, इसकी चर्चा लगातार होती रही है, क्योंकि स्कूल की पाठ्यपुस्तकें ही वह माध्यम हैं, जिनके द्वारा सुविधाजनक विमर्श को आगे बढ़ाया जा सकता है। विवाद तब होता है, जब एक विमर्श आपके लिए सुविधाजनक होता है और दूसरे वर्ग के लिए असुविधाजनक। वर्तमान में इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में किए गए कुछ बदलावों से संबंधित विवाद को भी उसी संदर्भ में देखना चाहिए, जब एक वर्ग का सुविधाजनक दृष्टिकोण दूसरे वर्ग के विमर्श के अनुरूप नहीं होता है। देखा जाए तो इस प्रकार का विवाद पहली बार नहीं हुआ है। भारत के शैक्षणिक इतिहास में इस प्रकार के विवाद पहले भी होते रहे हैं। 2005 में एक पक्ष ने दावा किया कि 2000 में तत्कालीन सरकार द्वारा एनसीईआरटी की इतिहास की किताबों में किए गए बदलावों से स्कूली पाठ्यक्रम दूषित हो गया था, जिसे अब शुद्ध किया जा रहा है। वर्तमान की काट-छांट से जो पक्ष नाराज है वही 2005 में स्कूली पाठ्यचर्या को शुद्ध कर रहा था। इसलिए मौजूद बदलाव (काट-छांट) कोई ऐसी पहली घटना नहीं है। पाठ्यपुस्तकों पर लगातार इतिहास के एकपक्षीय चित्रण, शासक और दिल्ली केंद्रित होने के आरोप लगते रहे हैं। पाठ्यपुस्तकों से सदैव अपेक्षा रही है कि वे जनजातियों के इतिहास और भारत राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया में उनके योगदान पर उनकी संख्या के अनुरूप स्थान देंगी, मगर छोटा नागपुर और पूर्वोत्तर की जनसंख्या को इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में उनकी आबादी के अनुरूप प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया।

एनसीईआरटी की जिन पुस्तकों को लेकर विवाद हो रहा है, वे वर्ष 2005 से अभी तक बदली नहीं गई हैं, उनमें केवल कुछ काट-छांट करके काम चलाया जा रहा है। किसी भी देश के लिए यह दुर्भाग्य का विषय है कि उसके विद्यार्थियों को 18 वर्षों से वही पुस्तकें पढ़ाई जा रही हैं, जबकि समाज, राष्ट्र और वैश्विक स्तर पर अनेक बदलाव हो चुके हैं। वर्तमान में एनसीईआरटी की पुस्तकों को लेकर विवाद इसलिए गैरजरूरी हो जाता है, क्योंकि यह यथास्थिति को बनाए रखने की वकालत करता है और किसी भी बदलाव का विरोध करता है। यह मानने में कोई दुविधा नहीं है कि भारतीय इतिहास लेखन की परंपरा में एक पक्ष सदैव हावी रहा है और उसका विश्वास रहा है कि उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया तथ्य ही अंतिम है। वर्तमान प्रकरण में भी यही दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है, जब वह कुछ तथ्यों को पाठ्यपुस्तकों से इसलिए हटाने का विरोध करता है, क्योंकि उसे लगता है कि उसके बिना छात्रों में इतिहास बोध नहीं हो सकता।

विश्व भर की शिक्षा व्यवस्थाएं अपने-अपने देश के पाठ्यक्रम को समझ और तार्किक दृष्टिकोण पर आधारित बनाना चाह रही हैं, वहीं हमारे देश में विवाद इस बात पर हो रहा है कि किस पक्ष का तथ्य सही है? यहां असुविधाजनक तथ्य को वृत्तांत की सहायता से सदैव छुपाने का प्रयास रहता है। इतिहास को न केवल तथ्यों से समझा जा सकता है और न केवल वृत्तांतों से। इसलिए यह आवश्यक है कि दोनों का उचित मात्रा में समावेश हो, मगर हमारे देश में इतिहास लेखन की शैली में तथ्य और वृत्तांत का विभाजन काफी बारीक है। इस विषय के पुनरावलोकन की आवश्यकता है। जहां पूरे विश्व की शैक्षणिक व्यवस्थाएं अपने स्वरूप को बदल रही हैं और छात्रों को तथ्यों से भरने के बजाय उन्हें इतिहास आधारित दृष्टिकोण से युक्त करने पर जोर दे रही हैं, जिससे छात्रों में इतिहास के प्रति एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण विकसित हो सके। आज के तकनीकी दौर में इतिहास बोध होने पर छात्र स्वयं ही ऐतिहासिक तथ्यों की पड़ताल कर सकता है।

किसी देश की शिक्षा व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि वह अपने छात्रों को तथ्य आधारित, वस्तुनिष्ठ पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराए, क्योंकि यही छात्र भविष्य के विमर्श को न केवल आगे बढ़ाते हैं, अपितु नए विमर्श की शुरुआत भी करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इतिहास में एकपक्षीय दृष्टिकोण से आगे बढ़कर चिंतन और तार्किक पाठ्यक्रम का विकास किया जाए। एनसीईआरटी से अपेक्षा है कि वह वर्तमान विवाद से अप्रभावित रहते हुए छात्रों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विकास से संबंधित पाठ्यक्रम का विकास करेगी, न कि तथ्यों के चयन में छात्रों को उलझाएगी।

राष्ट्रीय सहारा

Date:18-04-23

आखिर क्यों पीछे हैं हम

प्रह्लाद सबनानी

अभी हाल ही में वर्ष 2023 के लिए वैश्विक प्रसन्नता प्रतिवेदन जारी किया गया है। वैश्विक प्रसन्नता प्रतिवेदन को, 150 से अधिक देशों का विभिन्न बिंदुओं पर सर्वे करने के बाद संयुक्त राष्ट्र दीर्घकालिक विकास समाधान तंत्र द्वारा प्रकाशित किया जाता है। वैश्विक प्रसन्नता प्रतिवेदन को अंतिम रूप देने के पूर्व, स्वस्थ जीवन प्रत्याशा, प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद, सामाजिक सहयोग, भ्रष्टाचार का स्तर, समाज में नागरिकों के बीच आपसी सदाशयता एवं निर्णय लेने की स्वतंत्रता जैसे बिंदुओं पर विभिन्न देशों का आकलन किया जाता है।

जैसे छोटे-छोटे देश जिनकी जनसंख्या तुलनात्मक रूप से बहुत कम रहती है, इस सूची में शीर्ष स्थान प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। उक्त सर्वे के अनुसार सबसे अधिक प्रसन्न देश, फिनलैंड में केवल 55 लाख नागरिक निवास करते हैं, डेनमार्क में 58.6 लाख लोग रहते हैं एवं आइसलैंड में तो महज 3.73 लाख नागरिक ही निवास करते हैं। इसके विपरीत भारत के अकेले मुंबई, दिल्ली, कोलकता, चेन्नई, बेंगलुरू, हैदराबाद जैसे शहरों की जनसंख्या इन देशों की उक्त वर्णित जनसंख्या से कई गुना अधिक है।

वैसे विश्व के विभिन्न देशों के नागरिकों की प्रसन्नता को एक जैसे 6 अथवा 7 बिंदुओं पर सर्वे करते हुए नहीं आंका जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक देश के नागरिकों में खुशी अथवा गम की अवस्था अलग-अलग कारकों एवं

कारणों के चलते भिन्न-भिन्न होती है। वैश्विक प्रसन्नता प्रतिवेदन के माध्यम से जारी सूची में भारत को 126वां स्थान दिया गया है परंतु, आश्चर्य तो इस बात पर है कि लगातार आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं से जूझ रहा पाकिस्तान इस सूची में 103वें स्थान पर है। इस आकलन के अनुसार, क्या पाकिस्तान के नागरिक, भारत के नागरिकों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न हैं? इसी प्रकार, इस सूची में चीन को 64वां, नेपाल को 78वां, बांग्लादेश को 118वां एवं श्रीलंका को 112वां स्थान दिया गया है। जबकि, श्रीलंका, बांग्लादेश एवं नेपाल भी लगातार आर्थिक समस्याओं से जूझते हुए दिखाई दे रहे हैं। वैश्विक प्रसन्नता प्रतिवेदन के माध्यम से जारी सूची में शीर्ष 20 देशों में एशिया का कोई भी देश शामिल नहीं है। अर्थात, केवल यूरोपीय देशों के नागरिक ही प्रसन्न रहते हैं, जबकि एशिया से चीन विश्व की दूसरी, जापान विश्व की तीसरी एवं भारत विश्व की पांचवी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। अर्थात, विश्व की शीर्ष पांच अर्थव्यवस्थाओं में तीन एशिया के देश हैं, परंतु फिर भी एशिया के नागरिक प्रसन्न नहीं हैं? उक्त वैश्विक प्रसन्नता प्रतिवेदन को अंतिम रूप दिए जाते समय सम्भवत: कुछ बुनियादी गलतियां हुई होंगी, ऐसा आभास होता है। क्योंकि, उक्त सर्वे के साथ ही इसी संदर्भ में तीन अन्य सर्वे भी जारी हुए हैं, जिनके परिणामों में भारतीय नागरिकों को बहुत प्रसन्न बताया गया है। भारतीय स्टेट बैंक के आर्थिक अनुसंधान विभाग द्वारा भी अभी हाल ही में विभिन्न देशों में नागरिकों की प्रसन्नता को आंकने के संदर्भ में एक सर्वे किया गया है। यह सर्वे मुख्य रूप से वित्तीय क्षेत्र में प्रसन्नता, कार्यस्थल पर पहुंचने एवं उत्पादकता से सम्बंधित प्रसन्नता, मानसिक प्रसन्नता, जीवन एवं कार्य के बीच संतुलन, ऊर्जा की उपलब्धता, आदि जैसे बिंदुओं पर आधारित है। यह सर्वे 61 देशों के संबंध में उक्त वर्णित मानदंडों पर प्राप्त विस्तृत जानकारी के आधार पर सम्पन्न किया गया है। वित्तीय क्षेत्र में प्रसन्नता को आंकते समय देश में सकल बचत, शुद्ध बचत एवं निजी साख ब्यूरो कवरेज का ध्यान रखा गया है। बचत एवं ऋण की आसान उपलब्धता को भी वित्तीय प्रसन्नता को आंकने के मापदंड में शामिल किया गया है। वित्तीय प्रसन्नता के मापदंड पर कतर को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है, ग्रीस को अंतिम स्थान प्राप्त हुआ है एवं भारत को 17वां स्थान प्राप्त हुआ है।

अभी हाल ही में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपने एक बयान में कहा है कि भारत एवं चीन मिलकर, कैलेंडर वर्ष 2023 के दौरान होने वाली वैश्विक आर्थिक वृद्धि में 50 प्रतिशत की भागीदारी करेंगे। कोरोना महामारी एवं रूस तथा यूक्रेन के बीच चल रहे युद्ध के कारण वैश्विक स्तर पर सकल घरेलू उत्पाद में 3 प्रतिशत से कम की वृद्धि दर्ज होगी, जो कि सम्भवत: वर्ष 1990 के बाद से किसी एक वर्ष में सबसे कम वृद्धि दर होने जा रही है। जब भारत में आर्थिक विकास बहुत तेज गति से आगे बढ़ रहा है तो स्वाभाविक रूप से भारत के नागरिकों में प्रसन्नता का भाव भी बढ़ेगा। वैसे भी, विश्व बैंक ने विशेष रूप से भारत में गरीब वर्ग के नागरिकों की आर्थिक स्थिति में लगातार हो रहे अतुलनीय सुधार के चलते गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रहे नागरिकों की संख्या में भारी कमी की भरपूर प्रशंसा की है। साथ ही, भारत के नागरिकों का आध्यात्म एवं धर्म की ओर झुकाव भी उन्हें विपरीत परिस्थितियों के बीच भी संतुष्ट एवं प्रसन्न रहना सिखाता है। इसी मुख्य कारण से भारत प्राचीन काल में विश्व गुरु रहा है। और, अब पुन: भारत, विश्व गुरु बनने की ओर

अग्रसर हो चुका है, इससे भी भारत के नागरिकों में प्रसन्नता की स्थिति का निर्माण होना बहुत स्वाभाविक ही है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date:18-04-23

मुस्लिमों में सामाजिक न्याय और आरक्षण

फैयाज अहमद फैजी, (सामाजिक कार्यकर्ता)

सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले दिनों मुसलमानों के लिए आरक्षण के संबंध में दो अलग-अलग मामलों में अपनी राय व्यक्त की। पहला मामला, कर्नाटक सरकार द्वारा मुस्लिमों के लिए बनाई गई ओबीसी की श्रेणी 2 ई को समाप्त करने और दूसरा मामला, मुस्लिम एवं ईसाई धर्मावलंबी दलित समाज को एससी आरक्षण में सम्मिलित करने से संबंधित था। इन दोनों मामलों में सर्वोच्च न्यायालय में दाखिल याचिकाओं के संबंध में कोर्ट की टिप्पणी के बाद मुस्लिम समाज में सामाजिक न्याय एवं आरक्षण पर फिर बहस तेज हो गई है।

यह विदित है कि मजहबी पहचान के नाम पर आरक्षण संविधान की मूल भावना के विरुद्ध है। मुस्लिमों को ओबीसी और एसटी आरक्षण में शामिल किया गया है। हालांकि, एससी के तहत आरक्षण से ईसाई और मुस्लिम दलित अभी भी बाहर हैं, यह मामला सर्वोच्च न्यायालय में पिछले लगभग 22 वर्ष से विचाराधीन है। इस पर न्यायालय ने सरकार द्वारा गठित तीन सदस्यीय आयोग की रिपोर्ट का इंतजार करने की केंद्र सरकार की याचिका को दरकिनार करते हुए जुलाई में सुनवाई कर फैसले की बात कही है।

इस आधार पर कर्नाटक सरकार द्वारा सिर्फ मुस्लिम श्रेणी (2 ई) का समाप्त किया जाना संविधान-सम्मत प्रतीत होता है। यहां यह बात ध्यान रखने की है कि मुस्लिमों की अनेक पसमांदा (पिछड़ी, दलित और आदिवासी) जातियों को पहले की तरह ओबीसी के 19 प्रतिशत और एसटी के 7 प्रतिशत आरक्षण का लाभ मिलता रहेगा। कर्नाटक सरकार ने सिर्फ 4 प्रतिशत वाले 2 ई मतलब- विशेष रूप से मुस्लिम आरक्षण को समाप्त किया है। इस आरक्षण का लाभ सशक्त अशराफ मुस्लिम उठा रहे थे, जो संविधान व सामाजिक न्याय के अनुकूल नहीं था।

यह भी एक विडंबना है कि 2 ई श्रेणी के लिए बनने वाले जाति प्रमाणपत्र में जाति का नाम मुस्लिम लिखा रहता है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि मुस्लिम एक धार्मिक पहचान है, जातिगत पहचान नहीं। सोचना चाहिए, किसी धर्म के पिछड़ों और अगड़ों, दोनों को भला एक साथ आरक्षण देने की व्यवस्था कैसे हो सकती है?

लगता है, कुछ लोगों ने सरकारों को गुमराह कर स्वार्थ साधने के लिए ओबीसी आरक्षण में यह चोर दरवाजा खुलवाया था। तथ्य है कि मंडल कमीशन ने मुसलमानों की कमजोर जातियों को ओबीसी आरक्षण में शामिल करने के लिए कहा था। आज जिन 90 प्रतिशत मुस्लिमों (पसमांदा) को ओबीसी का आरक्षण मिल रहा है, वे भी धर्म के नाम पर

चिलचिलाती धूप में नारा बुलंद किए हुए हैं कि मुस्लिम आरक्षण लेकर रहेंगे। वैसे, ईडब्ल्यूएस में अशराफ वर्ग के आने के बाद से मुस्लिम आरक्षण की मांग में कुछ कमी आई है।

अव्वल तो मुस्लिम आरक्षण को लेकर भ्रम बहुत हैं और दूसरी बात, ओबीसी आरक्षण में आने वाली जातियों की सूची स्पष्ट नहीं है। सच्चर समिति ने भी यही बताया था। धार्मिक आधार से परे ऐसे कई ओबीसी समूह हैं, जो राज्य सूची में हैं, पर केंद्र सूची में नहीं हैं। उदाहरण के लिए, बिहार में सूचियों के नवीनीकरण के बाद 17 ओबीसी समूह ऐसे हैं, जिन्हें केंद्रीय सूची में जगह नहीं मिली है। उत्तर प्रदेश के दो मुस्लिम समूह - मिर्शिकार व नानबाई को केंद्रीय सूची में जगह नहीं मिली है। कुछ ऐसे मुस्लिम समूह हैं, जिन्हें केंद्र की सूची में जगह मिली है, परंतु राज्य सूची में सम्मिलित किया जाना बाकी है। बिहार में कलवार, उत्तर प्रदेश में आतिशबाज ऐसे उदाहरण हैं। विडंबना देखिए, अभी भी ऐसे समूह हैं, जिन्हें न तो केंद्र और न राज्य की सूची में जगह मिल पाई है।

देश के पसमांदा संगठनों का साफ मानना है कि देशज पसमांदा समाज का उत्थान सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक स्थिति के अनुरूप हो, मजहबी पहचान के आधार पर नहीं। पुरानी मांग रही है कि अनुच्छेद 341 के पैरा 3 को हटाकर पसमांदा दलितों को भी एससी आरक्षण में शामिल किया जाए। जरूरतमंद मुस्लिमों तक आरक्षण का लाभ पहुंचे। कर्नाटक, तमिलनाडु व केरल के ओबीसी आरक्षण से अशराफ जातियों को बाहर निकाला जाए। मुस्लिम आरक्षण की विसंगतियों को दूर किया जाए, ताकि सामाजिक न्याय का मार्ग प्रशस्त हो और यह आरक्षण कतई सांप्रदायिक मुद्दा न बनने पाए।